RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-04
Issue-02
February -2019

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com [UGC Listed Journal]

संवैधानिक संस्थाओं का निरन्तर ह्रास

मो0 फिरोज आलम

शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, बी0 आर0 ए0 बी0 यू0 (मुजफ्फरपुर)

भारतीय संवैधानिक व्यवस्था की विधिवत शुरूआत 26 जनवरी, 1950 को हुई। इस दिन से ही सम्पूर्ण भारत मे संविधान लागू हुआ और इसकी संवैधानिक व्यवस्था का अवतरण हुआ। भारतीय संविधान में संसदीय–व्यवस्था को स्वीकार किया गया। जिसके तहत कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में समन्वय होता है, अर्थात शक्तियों का समन्वय **(Fusion of powers)** का सिद्धांत को स्वीकार किया गया जिसमें कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते है तथा इनका सामूहिक–उत्तरदायित्व व्यवस्थापिका के प्रति होता है। ऐसी संसदीय व्यवस्था में कार्यपालिका के दो प्रधान होते है–एक, संवैधानिक कार्यपालिका प्रधान, जिसकी भूमिका राष्ट्रपति निभाता है, जबकि दुसरा, वास्तविक कार्यपालिका प्रधान, जिसकी भूमिका में प्रधानमंत्रो कार्य करते हैं। न्यायपालिका को कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका से स्वतंत्र रखा गया है, ताकि इनके बिना प्रभाव में आये व अपना कार्य निर्भीक एवं निष्पक्ष होकर निर्वाहन कर सके।

भारत में लोकतांत्रिक प्रणाली पर आधारित संवैधानिक व्यवस्था के तहत संवैधानिक संस्थाओं का गठन, प्रकिया व उसकी भूमिका निर्धारित है। सरकार के तीन अंग होते है– व्यवस्थापिका, कायपालिका और न्यायपालिका । व्यवस्थापिका का कार्य्– कानून का निर्माण करना होता है, वहीं कार्यपालिका का कार्य उन् कानूनों को कार्यान्वित करना अर्थात् धरातल पर उतारना होता है। न्यायपालिका का कार्य यह देखना होता है कि व्यस्थापिका ने जो कानून बनायें हैं, वह संवैधानिक व्यवस्था की कसौटी पर संगतपूर्ण है अथवा नहीं और कार्यपालिका द्वारा कानून लागू करते समय यथोचित प्रक्रिया का पालन किया गया है अथवा नहीं। मोटे तौर पर, सरकार के इन अंगो के बीच विभाजित भूमिका से स्पष्ट लगता है कि संविधान निर्माताओं ने एक संवैधानिक व्यवस्था में इन संस्थाओं को भूमिका को स्पष्ट रेखांकित करत हुए लोगों के कल्याण व हित की अपेक्षा की है। किन्त, सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों नें इन सवैधानिक संस्थाओं की भूमिकाओं मे कछ ऐसा परिवर्तन देखा जाता रहा है कि इन संस्थाओं की गरिमा व प्रतिष्ठा में कमी आई है और इनका क्षरण हुआ है।

संवैधानिक संस्थाओं का स्वरूप

भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में संविधान के प्रारंभ होने पर दोहरी संवैधानिक व्यवस्था थी किन्तु पंचायती–व्यवस्था एवं नगर–निकायों को 73वें तथा 74वें संवैधानिक–संशोधनो के तहत् 1993 से जब संवैधानिक दर्जा प्राप्त हो गया, तो देश में इन

संवैधानिक संस्थाओं का स्वरूप त्रि–स्तरीय हो गया है, जो है –

(1). प्रथम स्तर पर – केन्द्र अथवा संघ की संस्थायें है – व्यवस्थापिका (संसद), कार्यपालिका (केन्द्रीय मंत्री–परिषद) एवं सर्वोच्च न्यायालय ।

(2). द्वितीय स्तर पर – राज्य की संस्थायें है–व्यवस्थापिका (राज्य विधान मण्डल) कार्यपालिका (राज्य मंत्री–परिषद) एवं उच्च न्यायालय।

(3). तृतीय स्तर पर – स्थानीय निकाय–पंचायती व्यवस्था व शहरी निकाय।

पंचायती व्यवस्था में–

व्यवस्थापिका – ग्राम–सभा होती है।

कार्यपालिका–मुखिया व ग्राम पंचायत

न्यायिक संगठन–ग्राम कचहरी।

स्पष्ट है कि सरकार के तीन अंग–व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका – संवैधानिक व्यवस्था के तीनों चरणों में काम करती है जिनकी अपनी–अपनी भूमिका निर्धारित है। इनका अपना संगठन, स्वरूप तथा प्रक्रिया होतो ह, जिनपर बदलती सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा है। इसे विस्तार से, प्रत्येक संवैधानिक संस्थाओं की संरचनात्मक व कार्यात्मक रूपों में जो नकारात्मक प्रभाव पड़े है, जिससे उनकी प्रतिष्ठा व गरिमा में कमी आई है और जनता का विश्वास उनके प्रति कमा है, उसे इस प्रकार देखा जा सकता है।

RRIJM 2015, All Rights Reserved

व्यवस्थापिका **(Legislative)**

प्रतिनिधिमूलक लोकतांत्रिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका जनता के प्रतिनिधि–मण्डल की संवैधानिक संस्था है, जिसका सर्वोच्च् रूप संघीय स्तर पर संसद **(Parliament)** कहलाती है, जबकि राज्य स्तर पर इसे विधान–मण्डल **(Legislative)** कहा जाता हैं।

संसद अनुछेद–79 के तहत तीन अंगा से मिलकर बनती है– (1) राष्ट्रपति (2) राज्य–सभा (3) लोकसभा। किन्तु यह द्वि–सदनात्मक होती है।

उच्च सदन के रूप में 'राज्य–सभा' होती है, जबकि निम्न सदन 'लोक–सभा' कहलाती है, जिनके गठन सम्बन्धी प्रावधान क्रमशः अनुच्छेद–80 एवं अनुच्छेद–81 में वर्णित है।

'राज्य–सभा' का गठन अप्रत्यक्ष–निर्वाचन पद्धति से होता है, अर्थात् इनके सदस्य के निर्वाचन में जनता भाग नहीं लेकर जनता के चुने हुये पतिनिधि **M.L.As.** (विधान सभा के सदस्य) भाग लेते हैं। राज्य–सभा में 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनित होते हैं जिसका आधार होता है कि वे साहित्य, कला, विज्ञान अथवा समाज–सेवा मे से किसी क्षेत्र में विशिष्टता रखते है। सभी सदस्य 6 वर्षो के लिये निर्वाचित/मनोनित होते है, किन्तु राज्य–सभा चूंकि विघटित नहीं होती है ऐसे मं इसके 1/3 सदस्य प्रति 2 वर्षो पर सेवा–निवृत्त कर दिये जाते है, ऐसे मे इनकी निरन्तरता बनी रहती है।

संवैधानिक स्थिति यह है कि भले राज्य–सभा द्वितीय–सदन हों, किन्तु यह वरिष्ठ और उच्च सदन की गरिमा रखता है। यहाँ के सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और विशेष अनुभव वाले होते ह । जो कि विधयकों **(Bill)** के मामले में अथवा राष्ट–हित में अपना बहुमूल्य विचार रखते है और ऐसी अपेक्षा इनसें रहती है।

किन्तु व्यवहारिकतः जब साठ के दशक से राजनीति में भ्रष्टाचार का प्रवेश होने लगा, क्षेत्रीय दलों का प्रभाव भारतीय राजनीति में बढ़ने लगा तो विधान–सभा में क्षेत्रीय दल की सत्ता होने से क्षेत्रीय मानसिकता वाले एवं कम अनुभव रखने वाले का राज्य सभा में उपस्थिति बनती गई। फलतः विशिष्ट अनुभव की इनसें अपेक्षा में कमो आती गई। आपराधिक चरित्र वाले बाहुबली भी सामजिक विशिष्टता् प्राप्त कार्यकर्ता के रूप में 'राज्य–सभा' में् आते–चलें गयें। इससे विधि–निर्माण में एवं अन्य राष्टोय विषयों पर जो इस सदन से अपेक्षा् रहीं, उसमें कमो स्पष्ट दिखाई दी।

<u>लोकसभा</u>

संसद की यह एक लोकप्रिय सदन होती है, जिसमे जनता द्वारा चुनकर आये प्रतिनिधि सदस्य होते है। लोकसभा में सदस्य होने के लिये न्यूनतम आयु 25 वर्ष रखी गई है और इनका निर्वाचन व्यवस्क–मताधिकार के आधार पर 'फर्स्ट पास्ट द पोस्ट सिस्टम ;थ्पतेज च्ैंज वि जीम चवेज ेलेजमउद्ध से होता है। लोक–सभा के लिये इनका निर्वाचन 5 वर्षो के लिये की जाती है, किन्तु इससे पहले भी इनका विघटन किया जा सकता है। संसद में लोक–सभा की शक्ति व प्रभाव राज्य–सभा से अधिक होती है। लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल अथवा गठबन्धन ही सरकार बनाती है। यही सरकार देश की दशा और दिशा तय करती है। किन्तु बहुमत प्राप्त करने की इस चाहत मं राजनीतिक दलों नें जब आपराधिक प्रवृति वाले व्यक्तियों को अपना उम्मीदवार बनाना शुरू किया और निर्वाचन में धन और बाहुबल की प्रवृति बढ़ी तो वैसे व्यक्ति भी संसद में पहुंचने लगें जिन्हे संसदीय व्यवस्था की न तो समझ थी और न ही उन्हे कोई पढ़ने–लिखने की चाहत रही थी। उस राजनीतिक आपराधिकरण और फिर आपराधियों का जिस तरह राजनीतिकरण हुआ, उससे राजनीतिक व्यवस्था में लोकसभा की भूमिका प्रभावित हुई। क्षेत्रीय जातीय दलों के प्रभाव बढ़ने से दलीय–राजनीति इस कदर लोकसभा में दिखाई दी, कि मई, 1996 से 1999 तक लोकसभा के तीन चुनाव हुए क्रमशः 11वीं , 12वीं तथा 13वीं। क्षेत्रीय, जातीय व साम्प्रदाचिक प्रभाव के कारण गठबंधन की राजनीति प्रबल हुई। 25–26 दलों को मिलाकर सरकार चलन लगी। लोकसभा के सदस्य केवल गुटबाजी और लॉबिग कार्य मे मस्त रहने लगें, तो इस सदन की कार्यवाहियों में गति–राध और अंड़गें की राजनीति खुब चली। इसें **LIVE** टेलिविजन कास्टिंग मे आम–जनता मं इनकी छवि नकारात्मक बनीं। **First Past of the post** पद्धति में उस उम्मीदवार को निर्वाचित घोषित किया जाता है, जो सबसे अधिक मत प्राप्त करते हैं। इससे मतलब नहीं है कि वो कितना मत लायें है। केवल अन्य से उन्हें अधिक मत विजय के लिये होना चाहिए। इस पद्धति से वोट–कटवा के रूप में डमी–उम्मीदवार उतारनें की प्रवति बढ़ी । कुछ विशेष जाति–समुदाय को लुभाने की राजनीति देखी गई, अन्य जाति व क्षेत्र को नजरअंदाज किया जाने लगा। घन और पद का लोभ देकर राजनीतिक–हित पूरे किये जाने से लोकसभा तथा विधान–सभा की भूमिका में प्रबलता और प्रभाव की कमी दिखी।

<u>कार्यपालिका</u>

चुंकि संसदीय व्यवस्था है तो ऐसे में व्यवस्थापिका के सदस्य ही कार्यपालिका के सदस्य हो सकते है। केन्द्र एवं राज्य स्तर पर गठित सरकार

दलीय समीकरण को ध्यान में रखकर ही क्रमशः प्रधानमंत्री व मुख्यमंत्री अपनी मंत्री परिषद का गठन कि सिफारिश क्रमशः राष्ट्रपति व राज्यपाल से करते है ताकि गठबन्धन धर्म का पालन हो और उनकी सरकार एक स्थायी सरकार दे सकें। हर किसी को मंत्री का दर्जा की मांग से मंत्री–परिषद के प्रभाव मे कमी आयी। अनुभवहीन और अयोग्य भी मंत्री का सुख भोग की चाहत से मंत्री–परिषद का आकर–विस्तार लेने लगा। उप–मुख्यमंत्री बनाने की संस्कृति प्रबल हुई। एक लाचार और विवश मंत्री–परिषद चाहे केन्द्र में हो या राज्य में भारतीय राजनीति ने देखा। अटल–जी की सरकार ने 2003 में 91वीं संविधान संशोधन लाकर मंत्री–परिषद में मंत्रीयां की सीमा निर्धारित की, जो निम्न–सदन के सदस्य संख्या का 15% होता है।

न्यायपालिका

न्यायालय के न्यायाधीश सेवा–निवृत् होने पर कोई लाभकारी पद धारण नहीं कर सकते है किन्तु देखा जाता रहा है कि इन सेवा–निवृत न्यायाधीश को विभिन्न आयोगों, जांच–समितियों एवं राज्य–सभा की उम्मीदवारी मं, सरकार इन्हें अवसर देती रहती है जिससें नयायिक व्यवस्था में यह शक बनता है कि सरकार के पक्ष में भविष्य की अच्छी चाहत को पूर्ण करने के लिए फैसले देते रहते है। दसरी ओर, जब वयवस्थापिका एवं कार्यपालिका ने अपनी अपेक्षित भूमिका के प्रति उदासीनता दिखाई तो न्यायिक–सक्रियता का दौर आया। ऐसी न्यायिक सक्रियता की आड़ में व्यवस्थापिकीय एवं कार्यपालिकाय आदेश को कहीं विधिवत मान्यता मिली तो कहीं इसकी आड़ में कायपालिका और व्यवस्थिापिका ने प्रत्यक्ष रूप से जनता के कोप से बचने का प्रयास किया। जनहित–याचिकाओं के दौर में अपनी सक्रियता को जब न्याापालिका ने विवेकीकरण **(Rationalised)** किया तब उसकी स्थिति विभिन्न अंगों के अधिकार–शक्ति के संतुलन की बनी।

समीक्षा

कोई भी संवैधानिक संस्था पर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रभाव पड़ता है। इन संस्थाओं मे उपस्थित मानव का व्यवहार पर सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों रूपो में प्रभाव पड़ता है। किन्त, जहां सकारात्मक प्रभाव से इन संवैधानिक संस्थाओं की भूमिका एवं प्रभाव में वृद्धि होती है, लोगों की अपेक्षाओं के अनुरूप एवं अपनी अधिकार व कर्तव्य की सीमा में रहकर उपनी क्षमताओं का अधिक उपयोग कर देश व समाज में अपनी गरिमा स्थापित करता है और देश–दूनियां को एक नई दिशा भी देता है।

किन्तु नकारात्मक प्रभावों से इनकी न सिर्फ शक्ति व प्रभावों का स्खलन होता है बल्कि इनकें प्रति लोगों के विश्वास में भी कमी आती है और किसी अन्य संवैधानिक संस्था द्वारा इनके शक्ति व कार्यों में हस्तक्षेप करना भी प्रारंभ हो जाता है। इन संवैधनिक संस्थाओं में निरूतर ह्रास के कारणों व उसके दुष्परिणामां को मोटे तौर पर रखें तो वो है –

(1) विधायिका की सत्ता के क्षेत्र को कार्यापालिका ने हड़प लिया है। शासन का संसदीय रूप रखने वाले देश में, संसद का सत्र बुलाना, स्थगित करना, तथा सत्रावसान करना, राज्याध्यक्ष का अभिभाषण लिखना, बजट प्रस्तुत करना आदि अनेक महत्वपूर्ण मामलों मे मंत्रीमण्डल ही निर्णय लेता है।

(2) न्यायापालिका की भूमिका के कारण विधायिका की सत्ता में और अधिक ह्रास हुआ है। विशेष रूप से उस देश में जहां न्यायिक समीक्षा की व्यवस्था है। सरकार द्वारा कियें गयें कुछ कार्यकारी एवं विधायी प्रयासों को सर्वोच्च न्यायालय नें अवैध घोषित किया। एसे में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका का न्यायालय से गतिरोध भी बना है जिसका खामियाजा आम–जनता ने भुगता है।

(3) न्यायिक सक्रियता से कार्यपालिका, विधायिका की सत्ता का स्खलन हुआ। राजनीति की यह विडबना रही कि लोग कार्यपालिका की सत्ता में वृद्धि का भय व संदेह से देखते है जबकि न्यायपालिका की बढ़ती भूमिका को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते है। परिणमतः विधायिका एवं कार्यपालिका की सत्ता पर न्यायपालिका की सत्ता आच्छादित हुई।

(4) दलगत राजनीति ने भी विधायिका व कार्यपालिका की सत्ता को दूर्बल बनाया है, जिससे लोगों ने अपना विश्वास न्यापालिका की ओर किया।किन्तु शक्ति के आसमंजस्यपूर्ण स्थिति से लोकतंत्र प्रभावित हुआ।

(5) मतदान–व्यवहार में धर्म, जाति, क्षेत्र के प्रभाव के साथ–साथ हिंसा व बाहुबल के प्रभाव ने भी जहां अच्छे व्यक्वित्व को राजनीति मैं आने से रोका वहों अनुभवहीन और आपराधिक चरित्र वालें विधायिका व कार्यपालिका के सदस्य बनें इसस भी इनकें प्रभाव का हनन दिखा।

(6) विखंडित जनादेश न भी विधायिका तथा कार्यपालिका के प्रभावों में कमी लाई। गठबंधन

RRIJM 2015, All Rights Reserved

की विवशता से इनकी भूमिका प्रभावपूर्ण न होकर दलीय स्वार्थ–सिद्धि में ही व्यस्त रही। इससे स्थायी कार्यपालिका–नौकरशाहों ने अपनी स्वार्थ को पूर्ण करने में कोई कसर नहीं छोड़ा। भ्रष्टाचार में हर कोई गोता लगाने की मंशा से कार्य करता । ऐसे में इन संस्थाओं के प्रति लोगों के विश्वास में कमी आई।

इस प्रकार हम देखते है कि कई कारणों से संवैधानिक सस्थाओं की भूमिकाओं में निरत्तर ह्रास हुआ है, जिसमें आतरिक और वाहय कारक दोनों है। इसका खामियाजा लोकतांत्रिक मूल्यों के विश्वास में कमो से पूरा होता है। ऐसे में आवश्यक है कि सर्वप्रथम आन्तरिक संरचना को मजबूत रखा जाय। ईमानदार, कर्मठ व अनुभवी को हमेशा सम्मान मिले और भ्रष्टों को तुरन्त पद से हटाने एवं करने दण्डित करने की व्यवस्था हो । सही में, किसी देश में यदि कुशल, कर्मठ, ईमानदार नेतृत्व हो तों संवैधानिक संस्थाओं की भूमिका बलवती होगी और लोगा का विश्वास भी बढ़ेगा एवं सरकार के अंगों के बीच एक सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध कायम होगा। जरूरी यह भी है कि लोकतांत्रक व्यवस्था में जनता शिक्षित, जागरूक व सहनशील हो ताकि राजनीतिक परिदृश्यों को समझते हुए तथा देश की मांग के अनुकूल अपना बहूमूल्य मत व समर्थन दे।

संदर्भित पुस्तकें –

(1) जे0 सी0 जौहरी तथा सीमा जौहरी, 'आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धांत' स्ट्रलिंग पब्लिशर्ज प्रा0 लिमिटेड।
(2) डी0 डी0 बासु, 'भारतीय संविधान एक परिचय' 18वां संस्करण।
(3) सुभाष कश्यप, 'भारतीय संविधान'
(4) K.K.Ghai, "Indian Government and Politics" Kalyani Publications, New Delhi, 2008.
(5) C.P. Bhambhri, 'Democracy in India' NBT, New Delhi,2007.
(6) Peter De Souza, 'The Indian Common Sens of Democracy' Seminar, New Delhi, Aug.2007.

RRIJM 2015, All Rights Reserved